श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.9)

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार ।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कंधः

अथनवमोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय, यद् यत्प्रियतमं(न्) नृणाम् ।
अनन्तं(म्) सुखमाप्नोति, तद् विद्वान् यस्त्वकिं(ञ्)चनः ॥ 1॥

अवधूत दत्तात्रेय जी ने कहा- राजन्! मनुष्यों को जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकठ्ठा करना ही उनके दुःख का कारण है। जो बुद्धिमान पुरुष यह बात समझकर अकिंचन भाव से रहता है-शरीर की तो बात ही अलग, मन से भी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता-उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

सामिषं(ङ्) कुररं(ञ्) जघ्नुर्- बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं(म्) परित्यज्य, स सुखं(म्) समविन्दत ॥ 2॥

एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीनने के लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे। जब कुरर पक्षी ने अपनी चोंच से मांस का टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला।

न मे मानावमानौ स्तो, न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।

आत्मक्रीड आत्मरतिर्- विचरामीह बालवत् ॥ 3॥

मुझे मान या अपमान का कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवार वालों को जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मा में ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीड़ा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालक से ली है। अतः उसी के समान मैं भी मौज से रहता हूँ।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ, परमानन्द आप्लुतौ ।

यो विमुग्धो जडो बालो, यो गुणेभ्यः(फ्) परं(ङ्) गतः ॥ 4॥

इस जगत् में दो ही प्रकार के व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्द में मग्न रहते हैं-एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं(वँ), वृणानान् गृहमागतान् ।

स्वयं(न्) तानर्हयामास, क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ 5॥

एक बार किसी कुमारी कन्या के घर उसे वरण करने के लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घर के लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिए उसने स्वयं ही उनका आतिथ्य सत्कार किया।

तेषामभ्यवहारार्थं(म्), शालीन् रहसि पार्थिव ।

अवघ्नन्त्याः(फ्) प्रकोष्ठस्थाश्- चक्रुः(श्) शं(ङ्)खाः(स्) स्वनं(म्) महत् ॥ 6॥

राजन्! उनको भोजन कराने के लिये वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाई में पड़ी शंख की चूड़ियाँ जोर-जोर बज रही थीं।

सा तज्जुगुप्सितं(म्) मत्वा, महती व्रीडिता ततः ।

बभं(ञ्)जैकैकशः(श्) शं(ङ्)खान्, द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ 7॥

इस शब्द को निन्दित समझकर कुमारी को बड़ी लज्जा मालूम हुई, और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डाली और दोनों हाथों में केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं।

उभयोरप्यभूद् घोषो , ह्यवघ्नन्त्याः(स्) स्म शं(ङ्)खयोः ।

तत्राप्येकं(न्) निरभिद- देकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥ 8॥

अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाईयों में केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकार की आवाज नहीं हुई।

अन्वशिक्षमिमं(न्) तस्या, उपदेशमरिन्दम ।

लोकाननुचरन्नेताँ(ल्ँ)ल् - लोकतत्त्वविवित्सया ॥ 9॥

रिपुदमन! उस समय लोगों का आचार-विचार निरखने-परखने के लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था।

वासे बहूनां(ङ्) कलहो, भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।

एक एव चरेत्तस्मात्, कुमार्या इव कं(ङ्)कणः ॥ 10॥

मैंने कुमारी कन्या यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं, तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं, तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्या की चूड़ी के समान अकेले ही विचरना चाहिये।

मन एकत्र सं(यँ)युञ्ज्याज्-जितश्वासो जितासनः ।

वैराग्याभ्यासयोगेन, ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ 11॥

राजन्! मैंने बाण बनाने वाले से यह सीखा है कि आसन और श्वास को जीतकर वैराग्य और अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश में कर ले और फिर बड़ी सावधानी के साथ उसे एक लक्ष्य में लगा दे।

यस्मिन् मनो लब्धपदं(यँ) यदेतच्-

छनैः(श्) शनैर्मु(ञ्)चति कर्मरेणून् ।

सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च,

विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ 12॥

जब परमानन्दस्वरूप परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओं की धूल को धो बहाता है। सत्त्वगुण की वृद्धि से रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधन के बिना अग्नि।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो,

न वेद किं(ञ्)चिद् बहिरन्तरं(वँ) वा ।

यथेषुकारो नृपतिं(वँ) व्रजन्त-

मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ 13॥

इस प्रकार जब मनुष्य का चित्त परमात्मा में स्थिर हो जाता है, तब उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थ का भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनाने वाला कारीगर बाण बनाने में इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पास से ही एक दलबल के साथ राजा की सवारी निकल गयी और उसे पता तक न चला।

एकचार्यनिकेतः(स्) स्या- दप्रमत्तो गुहाशयः ।

अलक्ष्यमाण आचारैर्- मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ 14॥

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे,

प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाये। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले।

गृहारम्भोऽतिदुःखाय, विफलश्चाध्रुवात्मनः ।

सर्पः(फ्) परकृतं(वँ) वेश्म, प्रविश्य सुखमेधते ॥ 15॥

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरोंके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है।

एको नारायणो देवः(फ्), पूर्वसृष्टं(म्) स्वमायया ।

सं(म्)हृत्य कालकलया, कल्पान्त इदमीश्वरः ।।16।।

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान् ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत् को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया। उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य अकेले ही शेष रह गए ।

एक एवाद्वितीयोऽभू- दात्माधारोऽखिलाश्रयः ।

कालेनात्मानुभावेन, साम्यं(न्) नीतासु शक्तिषु ।

सत्त्वादिष्वादिपुरुषः(फ्), प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ 17॥

वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं; परन्तु स्वयं अपने आश्रय-अपने ही आधार से रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनों के नियामक, परमात्मा अपनी शक्ति काल के प्रभाव से सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियों को साम्यावस्था में पहुँचा देते हैं।

परावराणां(म्) परम, आस्ते कैवल्यसं(ञ्)ज्ञितः ।

केवलानुभवानन्द- सन्दोहो निरुपाधिकः ॥ 18॥

वे स्वयं कैवल्यरूप से एक और अद्वितीय रूप से विराजमान रहते हैं । वे केवल अनुभवस्वरूप और आनंदघन मात्र हैं । किसी भी प्रकार की उपाधि का उनसे संबंध नहीं है।

केवलात्मानुभावेन, स्वमायां(न्) त्रिगुणात्मिकाम् ।

सं(ङ्)क्षोभयन् सृजत्यादौ, तया सूत्रमरिन्दम ॥ 19॥

वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति काल के द्वारा अपनी त्रिगुणमयी माया को क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्ति - प्रधानसूत्र की रचना करते हैं ।

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं(म्), सृजन्तीं(वँ) विश्वतोमुखम् ।

यस्मिन् प्रोतमिदं(वँ) विश्वं(यँ), येन सं(म्)सरते पुमान् ॥ 20॥

यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही तीनों गुणों की पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकार की सृष्टि का मूल कारण है। उसी में यह सारा विश्व, सूत में ताने-बाने की तरह ओतप्रोत है और इसी के कारण जीव को जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ना पड़ता है।

यथोर्णनाभिर्हृदया- द्ऊर्णां(म्) सन्तत्य वक्त्रतः ।

तया विहृत्य भूयस्तां(ङ्), ग्रसत्येवं(म्) महेश्वरः ॥ 21॥

जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसी में विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत् को अपने में से उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूप से विहार करते हैं और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं।

यंत्र यंत्र मनो देही, धारयेत् सकलं(न्) धिया ।

स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि, याति तत्तत्सरूपताम् ॥ 22॥

राजन्! मैंने भृंगी (बिलनी) कीड़े से यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी जान-बूझ कर एकाग्ररूप से अपना मन किसी में लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

कीटः(फ्) पेशस्कृतं(न्) ध्यायन्, कुड्यां(न्) तेन प्रवेशितः ।

याति तत्सात्मतां(म्) राजन्, पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥ 23॥

राजन्! जैसे भृंगी एक कीड़े को ले जाकर दीवार पर अपने रहने की जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भय से उसी का चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीर का त्याग किये बिना ही उसी शरीर से समान हो जाता है।

एवं(ङ्) गुरुभ्य एतेभ्य, एषा मे शिक्षिता मतिः ।

स्वात्मोपशिक्षितां(म्) बुद्धिं(म्), शृणु मे वदतः(फ्) प्रभो ॥ 24॥

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओं से ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीर से जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो।

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्-

बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं(म्) सततार्त्युदर्कम् ।

तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि,

पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसं(ङ्)गः ॥ 25॥

यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्य की शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीर को पकड़ रखने का फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीर से तत्त्वविचार करने में सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायेंगे। इसीलिए मैं इससे असंग होकर विचरता हूँ।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्,

पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षुतया वितन्वन् ।

स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः(स्) स देहः(स्),

सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥ 26॥

जीव जिस शरीर का प्रिय करने के लिये ही अनेकों प्रकार की कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओं का विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषण में लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धन संचय करता है। आयुष्य पूरी होने पर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्ष के समान दूसरे शरीर के लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःख की व्यवस्था कर जाता है।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा,

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं(म्) श्रवणं(ङ्) कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्-

बह्व्यः(स्) सपत्न्य इव गेहपतिं(लँ) लुनन्ति ॥ 27॥

जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पति को अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीव को जीभ एक ओर-स्वादिष्ट पदार्थों की ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर-जल की ओर; जननेंद्रिय एक ओर- स्त्रीसंभोग की ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर-कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्द की ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघने के लिये ले जाना चाहती है तो चंचल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखते ने लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या,

वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदं(म्)शमत्स्यान् ।

तैस्तैरतुष्टहृदयः(फ्) पुरुषं(वँ) विधाय,

ब्रह्मावलोकधिषणं(म्) मुदमाप देवः ॥ 28॥

वैसे तो भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति माया से वृक्ष, सरीसृप (रेंगने वाले जन्तु) पशु, पक्षी, डांस और मछली आदि अनेकों प्रकार की योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य शरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धि से युक्त है जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं(म्) बहुसम्भवान्ते,

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं(यँ) यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्-

नि:श्रेयसाय विषयः(ख्) खलु सर्वतः(स्) स्यात् ॥ 29॥

यद्यपि यह मनुष्य शरीर है तो अनित्य ही-मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। इससे परमपुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है; इसलिए अनेक जन्मों के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु के पहले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रह में यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये।

एवं(म्) सं(ञ्)जातवैराग्यो, विज्ञानालोक आत्मनि ।

विचरामि महीमेतां(म्), मुक्तसं(ङ्)गोऽनहं(ङ्)कृतिः ॥ 30॥

राजन्! यही सब सोच-विचार कर मुझे जगत् से वैराग्य हो गया। मेरे हृदय में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्द रूप से इस पृथ्वी में विचरण करता हूँ।

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं(म्), सुस्थिरं(म्) स्यात् सुपुष्कलम् ।

ब्रह्मैतदद्वितीयं(वँ) वै, गीयते बहुधर्षिभिः ॥ 31॥

राजन्! अकेले गुरु से ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सोचने-समझने की आवश्यकता है। देखो! ऋषियों ने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकार से गान किया है। यदि तुम स्वयं विचार कर निर्णय न करोगे तो ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे जान सकोगे।

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं(वँ) विप्रस्- तमामन्त्र्य गभीरधीः ।

वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा , ययौ प्रीतो यथागतम् ॥ 32॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- 'प्यारे उद्धव! गम्भीर बुद्धि अवधूत दत्तात्रेय ने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेय जी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नता से इच्छानुसार पधार गये।

अवधूतवचः(श्) श्रुत्वा, पूर्वेषां(न्) नः(स्) स पूर्वजः ।

सर्वसं(ङ्)गविनिर्मुक्तः(स्), समचित्तो बभूव ह ॥ 33॥

हमारे पूर्वजों के भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेय की यह बात सुनकर समस्त आसक्तियों से छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियों का परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये)

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥